International Journal of Advanced Research and Multidisciplinary Trends (IJARMT)
An International Open Access, Peer-Reviewed Refereed Journal
Impact Factor: 7.2 Website: https://ijarmt.com ISSN No.: 3048-9458

भू राजस्व के विशेष संदर्भ में भू राजस्व व्यवस्था का उदय और विकासः एक अध्ययन

पिंकी देवी दलाल

शोधार्थी, इतिहास विभाग, बाबा मस्तनाथ विश्वविद्यालय, अस्थल बोहर –124021, रोहतक

डॉ. कुमारी सुमन

शोध निर्देशिका, सहायक प्रोफेसर, इतिहास विभाग, बाबा मस्तनाथ विश्वविद्यालय, अस्थल बोहर –124021, रोहतक

शोध सारः

प्राचीन भारत में एक सुव्यवस्थित भू राजस्व प्रथा विद्यमान थी जो राज्य की आय का प्रमुख स्त्रोत थी। इस अध्ययन का उदेश्य भारत में भू राजस्व के उदय और विकास की जांच करना है। वैदिक काल में, जमीन को ज्यादातर समुदाय की सम्पति समझी जाती थी, जबकि राजा उसके रक्षक के तौर पर काम करता था। इस सुरक्षा और प्रशासनिक कार्यों के बदले में, राजा खेती की उपज का एक हिस्सा इकट्ठा करता था, जिसे आमतौर पर भाग कहा जाता है। अर्थशास्त्र में कहा गया है कि भू राजस्व उपज का लगभग छठा हिस्सा कर के तौर पर लिया जाना चाहिए । इसी तरह, मनुस्मृति भी राजा को खेती की उपज का एक हिस्सा राजस्व के तौर पर लेने का अधिकार देती है। भू राजस्व व्यवस्था का विकास राजनितिक अधिकार , प्रशासनिक संगठन और खेती की पैदावार से करीब से जुड़ा था। इसने न सिर्फ राज्य की आर्थिक नींव का काम किया, बल्कि पुराने भारत के खेती के ढांचे और ग्रामीण समाज को बनाने में भी अहम भूमिका निभाई।

मुख्य शब्द : भू राजस्व, प्राचीन भारत, खेती की अर्थव्यवस्था, कर, अर्थशास्त्र, मनुस्मृति, मौर्य प्रशासन

परिचयः

प्राचीन काल में भू–राजस्व या भूमि की उपज पर कर राजस्व का मुख्य स्रोत रहा है। भू–राजस्व के सिद्धांत भारत और दुनिया के अन्य हिस्सों में प्राचीन काल से ही अस्तित्व में रहे हैं। ऐसे सिद्धांतों की झलक शास्त्रीय युग के संस्कृत, अरबी, फारसी और लैटिन ग्रंथों में पाई जा सकती है। ऐसा माना जाता है कि संस्कृत कानून की पुस्तकों में दिए गए सिद्धांतों का प्राचीन भारत के शासकों द्वारा शासन में कड़ाई से पालन किया जाता था । यह शोधपत्र प्राचीन भारत के शास्त्रों में दिए गए भू–राजस्व के इन सिद्धांतों का अध्ययन करने का एक प्रयास है। कई शास्त्र संस्कृत में लिखे गए थे जिनमें महाकाव्य, धर्मसूत्र, धर्मशास्त्र आदि शामिल हैं। ये प्राचीन भारत के लोगों द्वारा पालन और अभ्यास किए जाने वाले भू–राजस्व सिद्धांतों के विभिन्न पहलुओं को शामिल करते हैं।

प्राचीन काल में, राजस्व का मुख्य आधार राजा का हिस्सा या कृषकों की उपज में से हिस्सा होता था । पाणिनि, जिनका उत्कर्ष संभवतः 500 ईसा पूर्व माना जाता है, ने भूमि को राजस्व

International Journal of Advanced Research and Multidisciplinary Trends (IJARMT)
An International Open Access, Peer-Reviewed Refereed Journal
Impact Factor: 7.2 Website: https://ijarmt.com ISSN No.: 3048-9458

के स्रोत के रूप में उल्लेख किया है । कौटिल्य का अर्थशास्त्र पहला प्रारंभिक भारतीय ग्रंथ है जो भू–राजस्व के बारे में कुछ जानकारी देता है। इसमें कृषि भूमि से प्राप्त उपज और अनाज को राज्य को देय राशि के स्रोत के रूप में उल्लेख किया गया है। भूमि को राजस्व के स्रोत के रूप में उल्लेख करने के अलावा, स्मृतियों या धर्मशास्त्रों में राजा और कृषक के बीच संबंधों की भी चर्चा की गई है। कराधान के बदले राजा के संरक्षण के कर्तव्य की अवधारणा, या दूसरे शब्दों में, लौकिक शासक और उसकी प्रजा के बीच एक अर्ध–संविदात्मक संबंध की अवधारणा, सामान्यतः स्मृतियों के विचारों और अवधारणाओं में व्याप्त है। पवित्र कानून के ये ग्रंथ, अर्थात् स्मृतियाँ, राजा और कृषक के बीच एक द्विपक्षीय संबंध प्रस्तुत करती हैं, जिसे अधिकारों की तुलना में कर्तव्यों के संदर्भ में अधिक सटीक रूप से परिभाषित किया गया है[i]।

कृषक का कर्तव्य, पहला, उपज उगाना और दूसरा, अपनी उपज का एक हिस्सा राजा को देना है। इन कर्तव्यों का पालन करते हुए, वह राजा के संरक्षण की अपेक्षा कर सकता है और अपनी शेष उपज का आनंद ले सकता है, जो निश्चित रूप से कानून में निहित उसके व्यय के किसी भी नियम के अधीन है। दूसरे शब्दों में, राजा का सर्वोच्च कर्तव्य अपनी प्रजा की रक्षा करना है और ऐसा करने में, वह कानून के अनुसार कृषक की उपज का एक हिस्सा प्राप्त करने का हकदार है[ii]।

उपर्युक्त कथनों में, 'उपज' शब्द का प्रयोग उसके स्वाभाविक अर्थ में किया गया है, अर्थात् उत्पादन लागत में से कुछ भी घटाए बिना भूमि की सकल उपज। बाद के काल में, कुछ ऐसे उदाहरण मिलते हैं जहाँ असाधारण व्यय के लिए कुछ छूट दी गई थी, लेकिन ब्रिटिश शासन से पहले शुद्ध आय पर औपचारिक रूप से राजस्व का आकलन करने का कोई संकेत नहीं मिलता[iii] । इसका सीधा सा अर्थ है कि उपज को कृषक की सकल वार्षिक उपज माना जाता था और भू–राजस्व या हिस्सा इसका एक बड़ा हिस्सा होता था। राजा और कृषक के बीच के संबंधों के बारे में विभिन्न विचारकों द्वारा विशेष विचार व्यक्त किए गए हैं। गौतम ने अपने धर्मसूत्र में, जिसकी रचना ईसा पूर्व सातवीं और दूसरी शताब्दी के बीच हुई थी, यह प्रतिपादित किया है कि करदाताओं की रक्षा करना राजा का कर्तव्य है। इसलिए, राजा को उनकी (करदाताओं की) सुरक्षा में सावधानीपूर्वक संलग्न होना चाहिए । इसी प्रकार, कराधान के बदले में सुरक्षा के कर्तव्य का विचार बौधायन के लेखन में प्रतिध्वनित होता है, जिनके बारे में कहा जाता है कि वे छठी और तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व के बीच फले–फूले। उनका विचार है कि राजा अपनी प्रजा की रक्षा के बदले में उनकी उपज का छठा भाग लेता है[iv] । मनु, जो पहली दो शताब्दियों ईसा पूर्व के दौरान फले–फूले, कहते हैं कि यदि कोई राजा सुरक्षा प्रदान किए बिना कर आदि वसूलता है, तो वह तुरंत नरक में जाता है । याज्ञवल्क्य कहते हैं कि, 'राजा द्वारा संरक्षित प्रजा द्वारा किए गए सभी पापों का आधा हिस्सा राजा को भुगतना पड़ता है क्योंकि वह सुरक्षा के बदले में अपनी प्रजा से कर लेता है। वे कृषि उपज के छठे हिस्से को राजा की आजीविका या ब्रिति या उसकी मजदूरी या वेतन कहते हैं [अ]।

International Journal of Advanced Research and Multidisciplinary Trends (IJARMT)
An International Open Access, Peer-Reviewed Refereed Journal
Impact Factor: 7.2 Website: https://ijarmt.com ISSN No.: 3048-9458

यह सिद्धांत अपने सर्वोत्तम रूप में पाँचवीं शताब्दी ईस्वी में प्रसिद्ध हुए कालिदास की रचनाओं में प्रकट होता है। वे कहते हैं कि 'जिस प्रकार सूर्य पृथ्वी से नमी ग्रहण करता है और उसे हजार गुना करके लौटाता है, उसी प्रकार राजा भी अपनी प्रजा से केवल उनके कल्याण के लिए कर वसूलता है'[vi]।

राजा के नैतिक–धार्मिक संरक्षण दायित्वों के सापेक्ष निहितार्थों पर 10वीं शताब्दी में मेधातिथि द्वारा सक्रिय रूप से चर्चा की गई है । यहाँ तक कि मनुष्य और उसकी संस्थाओं के विकास का बौद्ध सिद्धांत भी अनुबंध के सिद्धांत के लिए एक अर्ध–ऐतिहासिक औचित्य प्रदान करता है, जिसके अनुसार राज्य का उद्भव प्रकृति के अनिष्टों से बचने के लिए प्रजा द्वारा अपने मूल शासक के साथ किए गए एक द्विपक्षीय सरकारी समझौते से हुआ है। इस अनुबंध सिद्धांत का चरम विकास आर्यदेव की एक रचना और राजनीति पर एक अन्य तकनीकी रचना, जिसे शुक्रनीति कहा जाता है, में पाया जाता है। आर्यदेव ने अपनी एक रचना में राजा को प्रजा का सेवक घोषित किया है, जिसका निर्वाह 160 प्रतिशत है, जबकि शुक्रनीति में कहा गया है कि राजा को करों को अपनी मजदूरी के रूप में लेकर प्रजा की सेवा करने के लिए नियुक्त किया गया है[vii] । इस प्रकार, शुक्रनी के इस सिद्धांत के अनुसार, कराधान राज्य में राजा और प्रजा के बीच का नकद संबंध है। यह वास्तव में प्रजा के बीच अनुबंध का भौतिक आधार है जो प्रतिपूर्ति और प्रदान किए गए लाभ के बीच समानता पर केंद्रित है। शुक्र आगे कहते हैं कि सभी से कर लेने के बाद, राजा को दास की तरह उनकी रक्षा करनी चाहिए । लगभग इसी तरह का विचार पुरप्पोरुल वेनबामलाई में व्यक्त किया गया है। वहाँ कहा गया है कि जिस राजा से उपज का साठवाँ भाग प्राप्त करने की अपेक्षा की जाती है, उसे अपने पूर्वजों के मार्ग का अनुसरण करते हुए सुरक्षा प्रदान करनी चाहिए[viii]।

राजा और कृषक के बीच राजकोषीय संबंध के अलावा, प्राचीन भारतीय शास्त्र कराधान के सिद्धांतों की भी चर्चा करते हैं जो कर के न्यायपूर्ण संग्रह पर बल देते हैं। आपस्तम्ब कहते हैं कि राजा को अपने अधिकारियों के माध्यम से न्यायोचित कर वसूलना चाहिए। मनु कहते हैं, "उसे (राजा को) अपने राज्य में वार्षिक राजस्व अपने विश्वसनीय (अधिकारियों) के माध्यम से वसूल करना चाहिए, प्रजा के साथ व्यवहार में पवित्र नियमों का पालन करना चाहिए और सभी मनुष्यों के प्रति पिता के समान व्यवहार करना चाहिए'[ix]। मनुस्मृति आगे कहती है कि राजा को अपने राज्य में करों पर भी विचार करना चाहिए और उन्हें वसूलना चाहिए ताकि राजा और व्यापारी को क्रमशः पर्यवेक्षण और व्यापार का फल प्राप्त हो यह उल्लेखनीय है कि कराधान के सिद्धांत का निर्माण करते समय, प्राचीन भारतीय विधि–निर्माताओं ने राजा के हिस्से को सीमित रखने पर विशेष ध्यान दिया था[x]। कराधान में संयम पर जोर देते हुए, मनुस्मृति में यह निर्धारित किया गया है कि राजा को अपनी प्रजा से प्रतिवर्ष थोड़ी मात्रा में कर वसूलना चाहिए, ठीक उसी प्रकार जैसे जोंक, बछड़ा और ततैया अपना भोजन थोड़ी मात्रा में लेते हैं।

International Journal of Advanced Research and Multidisciplinary Trends (IJARMT)
An International Open Access, Peer-Reviewed Refereed Journal
Impact Factor: 7.2 Website: https://ijarmt.com ISSN No.: 3048-9458

महाभारत में उल्लेख है कि कर सही स्थान, सही समय और सही रूप में लगाए जाने चाहिए । महाभारत में कराधान के सामान्य सिद्धांत इस प्रकार हैं (1) राजा को लोभ के कारण अपनी और दूसरों की नींव नष्ट नहीं करनी चाहिए, (2) प्रजा पर ऐसा कर लगाया जाना चाहिए कि वह भविष्य में आवश्यकता पड़ने पर भार वहन करने में सक्षम हो, और (3) महान कार्य अत्यधिक कर लगाने वाले राज्य द्वारा नहीं, बल्कि मध्यम कर लगाने वाले राज्य द्वारा संपन्न होते हैं, जिसके शासक रक्षा शक्ति का त्याग किए बिना मितव्ययितापूर्वक प्रशासन चलाते हैं[xi]। याज्ञवल्क्य, जिनके बारे में कहा जाता है कि वे मनु के बाद लेकिन बृहस्पति से पहले उठे थे, चेतावनी देते हैं कि जो राजा अपनी प्रजा से अन्यायपूर्ण तरीकों से धन लेकर अपना कोष बढ़ाता है, वह अपने धन के समाप्त होने पर अपने परिवार सहित नष्ट हो जाता है[गपप]। इस प्रकार, कृषक को राज्य को कर देना ही पड़ता है, लेकिन राज्य को यह ध्यान रखना चाहिए कि वह नष्ट न हो [xiii]। जैसा कि हम शुक्रनीति में पढ़ते हैं, भू–राजस्व की वसूली माला बनाने वाले की तरह होनी चाहिए, न कि कोयला व्यापारी की तरह।

माला बनाने वाला कोयला बनाने के लिए लकड़ी में आग लगाता है और इस प्रकार सारा धन नष्ट हो जाता है। लेकिन माला बनाने वाला भविष्य में उपयोग के लिए पेड़ों से लकड़ियाँ तोड़ता है। शुक्रनीति संकेत करती है कि अत्यधिक कराधान से राज्य से बड़े पैमाने पर पलायन होता है। वे कहते हैं कि जो राजा लोभ के कारण अपनी प्रजा से अत्यधिक कर वसूलता है, उसके राज्य में प्रजा विहीन हो जाती है।

प्राचीन भारतीय विचारकों की भू–राजस्व या कृषक की उपज के उस हिस्से की एक निश्चित अवधारणा रही है जो राज्य को मिलना चाहिए। अधिक सटीक रूप से, धर्मशास्त्रों ने राजा द्वारा उचित रूप से लिए जा सकने वाले हिस्से की सीमाएँ निर्धारित की हैं। गौतम कहते हैं कि कृषक को कृषि भूमि की उपज का दसवाँ, आठवाँ या छठा भाग कर के रूप में राजा को देना चाहिए। वशिष्ठ ने निर्धारित किया है कि पवित्र नियमों के अनुसार शासन करने वाला राजा अपनी प्रजा की संपत्ति का छठा भाग ले सकता है[xiv]। मनु के अनुसार, राजा को अनाज का छठा, आठवाँ या बारहवाँ भाग लेना चाहिए । यह अनुमान लगाया जा सकता है कि मनु द्वारा फसलों पर लगाए गए कर की अलग–अलग दरें, छठा, आठवाँ और बारहवाँ, स्पष्ट रूप से मिट्टी की प्रकृति, मानसून और कृत्रिम स्रोतों से पानी की उपलब्धता पर निर्भर थीं[xv]। विष्णु ने राजा का कर्तव्य निर्धारित किया है कि वह अपनी प्रजा से प्रति वर्ष अनाज का छठा भाग कर के रूप में वसूल करे [xvi]। शुक्र कहते हैं कि राजा को किसान से इतना हिस्सा लेना चाहिए कि वह क्रोधित न हो। इसके अलावा, वह यह भी निर्धारित करता है कि जिन क्षेत्रों में पर्याप्त तालाब, टैंक, कुएं, नदियां आदि हैं, वहां राजा को एक तिहाई, एक चौथाई या एक छठा हिस्सा लेना चाहिए और जिन क्षेत्रों में भूमि पत्थरों से ढकी है, वहां राजा को एक छठा हिस्सा स्वीकार करना चाहिए। शास्त्रीय तमिल कार्य, कुरल में भी एक–छठे हिस्से की दर का उल्लेख है । ये विचारक इस बात के प्रति भी सचेत हैं कि संकट के समय अपेक्षाकृत अधिक कर लगाया जाना चाहिए।

International Journal of Advanced Research and Multidisciplinary Trends (IJARMT)
An International Open Access, Peer-Reviewed Refereed Journal
Impact Factor: 7.2 Website: https://ijarmt.com ISSN No.: 3048-9458

इस प्रकार, कौटिल्य, मनु, नारद और शुक्र राजा को संकट या आपदा के समय एक तिहाई या एक चौथाई उपज लेने की अनुमति देते हैं। हालांकि, यह ध्यान देने योग्य है कि कौटिल्य राजा को इस भारी कर के लिए प्रजा से भीख मांगने के लिए कहते हैं ऐसा कर निचली भूमि से नहीं वसूला जाना चाहिए और अत्यधिक कर की मांग एक ही संकट की स्थिति में एक बार ही की जानी चाहिए, दो बार नहीं । प्राचीन भारतीय ग्रंथ भू–राजस्व के एक अन्य पहलू, अर्थात् कर से मुक्त वर्गों, पर भी प्रकाश डालते हैं। आपस्तम्ब में उन वर्गों का उल्लेख है जिन्हें कर से छूट प्राप्त है, जैसे विद्वान ब्राह्मण, सभी जातियों की स्त्रियाँ, दाढ़ी–मूँछ आने तक के बच्चे, गुरुकुल में अध्ययन हेतु रहने वाले छात्र, धर्म–साधना में लगे साधु, अंधे, गूंगे, बहरे और रोगी, पैर धोकर जीविका चलाने वाले शूद्र और धन कमाने से वर्जित साधु।

प्राचीन भारतीय धर्मग्रंथों और उनके लेखकों, जिन्हें अत्यंत प्रतिष्ठित विधिवेत्ता और विचारक माना जाता है, ने भू–राजस्व के विभिन्न सिद्धांत निर्धारित किए, जिनका उस काल के शासकों द्वारा अनिवार्य रूप से पालन किया जाता था। ये सिद्धांत न केवल उपज का एक बड़ा हिस्सा भू–राजस्व के रूप में निर्धारित करते हैं, बल्कि शासक और शासित की शक्तियों और कर्तव्यों को भी परिभाषित करते हैं। ये सिद्धांत इस बात पर बल देते हैं कि भू–राजस्व राजा और उसकी प्रजा के बीच एक प्रकार का अनुबंध है और किसी भी पक्ष को इसकी पवित्रता का उल्लंघन करने की स्वतंत्रता नहीं है।

निष्कर्ष:

भू–राजस्व व्यवस्था का उदय एक क्रमिक और ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम था, जो सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक विकास के साथ निरंतर परिपक्व होती गई। प्रारम्भ में 'बली' के रूप में स्वैच्छिक अर्पण की परंपरा थी, जो बाद में राज्य की बढ़ती आवश्यकताओं के कारण अनिवार्य कर में परिवर्तित हो गई। वैदिक साहित्य में कर का प्रारम्भिक स्वरूप दिखाई देता है, जबकि उत्तर वैदिक काल में 'भाग' और 'कर' जैसी अवधारणाएँ स्पष्ट रूप से विकसित हो चुकी थीं। ऋग्वेद और अथर्ववेद में 'बली' का उल्लेख इस प्रक्रिया के प्रारम्भिक चरण को दर्शाता है, वहीं मनुस्मृति में 'भाग' को राजा का वैध अधिकार बताया गया है, जो कर की नियमितता को स्थापित करता है। आगे चलकर अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने भूमि मापन, उपज के आधार पर कर निर्धारण तथा राजस्व संग्रह की विस्तृत प्रणाली का वर्णन किया है, जिससे स्पष्ट होता है कि मौर्य काल तक भू–राजस्व व्यवस्था अत्यंत संगठित और वैज्ञानिक रूप ले चुकी थी। अभिलेखीय स्रोत, विशेषकर अशोक के अभिलेख, प्रशासनिक नियंत्रण और राज्य–प्रजा संबंधों को दर्शाते हैं, जो अप्रत्यक्ष रूप से कर व्यवस्था की सुदृढ़ता को प्रमाणित करते हैं। इसके अतिरिक्त ताम्रपत्र अभिलेख भूमि दान और स्वामित्व के प्रमाण प्रदान करते हैं, जिससे यह सिद्ध होता है कि भूमि पर राज्य का अधिकार स्थापित था और उससे राजस्व प्राप्ति एक नियमित प्रक्रिया बन चुकी थी।

अतः यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारत में भू–राजस्व का उद्भव स्वैच्छिक अर्पण से प्रारम्भ होकर क्रमशः अनिवार्य, व्यवस्थित और राज्य–नियंत्रित कर प्रणाली के रूप में विकसित

International Journal of Advanced Research and Multidisciplinary Trends (IJARMT)
An International Open Access, Peer-Reviewed Refereed Journal
Impact Factor: 7.2 Website: https://ijarmt.com ISSN No.: 3048-9458

हुआ। यह व्यवस्था न केवल राज्य की आय का प्रमुख स्रोत बनी, बल्कि प्रशासनिक ढाँचे को सुदृढ़ करने में भी सहायक सिद्ध हुई। इस प्रकार, साहित्यिक और अभिलेखीय स्रोतों के समन्वित अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन भू–राजस्व प्रणाली एक विकसित, सुनियोजित और स्थायी आर्थिक तंत्र के रूप में स्थापित हो चुकी थी।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

[i] ए. एस. अल्तेकर, प्राचीन भारत में राज्य और शासनी, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली तृतीय संस्करण, संशोधित 1958, पुनर्मुद्रित 1977, 46

[ii] जी.एस. ब्रह्मराक्षस, सीपी टैनेंसी एक्ट (1920 का प्रथम) पर टिप्पणी, प्रकाशित जी एस ब्रह्मराक्षस, अधिवक्ता, उच्च न्यायालय नागपुर 1936 द्वारा, 9

[iii] डब्ल्यू एच मोरलैंड, मुस्लिम भारत की कृषि व्यवस्था – परिशिष्टों सहित एक ऐतिहासिक निबंध, प्रथम प्रकाशन 1929, द्वितीय संस्करण जून 1968, ओरिएंटल बुक्स पुनर्मुद्रण निगम दिल्ली, 3

[iv] बौधायन धर्मसूत्रम, गोविंदा स्वामिन की टिप्पणी के साथ, संपादित एल. श्रीनिवासाचार्य, गवर्नमेंट ओरिएंटल लाइब्रेरी सीरीज, के अंतर्गत प्रकाशित महामहिम का अधिकार, मैसूर के महाराजा, मैसूर, 1907

[v] याज्ञवल्क्य स्मृति, मिताक्षरा सहित, विजनेश्वर की टीका, उमेश द्वारा चंद्र पांडे, काशी संस्कृत शृंखला 178 चौखंबा संस्कृत शृंखला वाराणसी, 1967

[vi] . प्रमथ नाथ बनर्जी प्राचीन भारत में लोक प्रशासन भारतीय पुनर्मुद्रण प्रकाशन कंपनी, दिल्ली 1973, 181

[vii] पंडित मिहिरचंद्र श्रीमठ शुक्राचार्यविनिर्मित शुक्रनीति, खेमराजकृष्ण दास बॉम्बे 1955

[viii] वी.आर. रामचंद्र दीक्षित हिंदू प्रशासनिक संस्थान मद्रास विश्वविद्यालय मद्रास 1929

[ix] आपस्तम्ब धर्मसूत्र, हरदत्त मिश्र की उज्जवला टीका सहित, टिप्पणियाँ द्वारा, चिन्नास्वामी शास्त्री और ए. रामनाथ शास्त्री, उमेश चंद्र द्वारा संपादित पांडेया, काशी संस्कृत शृंखला 93, चौखंबा संस्कृत, वाराणसी 1969

[x] . मनुस्मृति, मणिप्रभा हिन्दी टीका साहित्य, टीकाकार हरगोविन्द शास्त्री काशी संस्कृत शृंखला, हरिदास संस्कृत ग्रंथमाला 226, चौखम्बा संस्कृत श्रृंखला, वाराणसी

[xi] के.पी. जायसवाल हिंदू राजनीति – हिंदू काल में भारत का एक संवैधानिक इतिहास भाग 1 और 3, तृतीय संस्करण बैंगलोर 1943, 322

[xii] बिनॉय कुमार सरकार हिंदुओं की राजनीतिक संस्थाएँ और सिद्धांत – तुलनात्मक राजनीति में एक अध्ययन चकरवर्टी, चटर्जी एंड कंपनी लिमिटेड, कलकत्ता 1939

International Journal of Advanced Research and Multidisciplinary Trends (IJARMT)
An International Open Access, Peer-Reviewed Refereed Journal
Impact Factor: 7.2 Website: https://ijarmt.com ISSN No.: 3048-9458

[xiii] याज्ञवल्क्य स्मृति, मिताक्षरा सहित, विजनेश्वर की टीका, उमेश द्वारा चंद्र पांडे, काशी संस्कृत शृंखला 178 चौखंबा संस्कृत शृंखला वाराणसी, 1967

[xiv] आर.सी. दत्ता भारत में अकाल और भूमि मूल्यांकन बीआर पब्लिशिंग कॉर्पोरेशन दिल्ली प्रथम प्रकाशन 1900 पुनर्मुद्रण 1985, 227

[xv] मनुस्मृति सहित मानवार्थ मुक्तावली कुल्लक भट्ट की टीका, परिचय, परिशिष्ट, अनुक्रमणिका गोपाल शास्त्री नेने द्वारा, काशी संस्कृत शृंखला, हरिदास संस्कृत ग्रंथमाला 114 चौखम्बा संस्कृत शृंखला वाराणसी 1935

[xvi] मैक्स मूलर (संपादक) पूर्व की पवित्र पुस्तकें क्लेरेंडन प्रेस द्वारा प्रथम प्रकाशन 1879, मोतीलाल बनारसीदास द्वारा पुनर्मुद्रित दिल्ली 1965